

प्रवचन नं. २० गाथा-५ ता. २९-६-७८ गुरुवार जेट वदि-९ सं.२५०४

---

समयसार गाथा पांच। बद्ध व्यवसाय... इतना कहा, बद्ध इतना कहा है संस्कृत में बद्ध है। बद्ध व्यवसाय... आचार्य क्या कहते हैं कुन्दकुन्दाचार्य कि मैं इस समयसार को अपने निज वैभव से कहूँगा। निज वैभव अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का प्रचुर स्वभाव का वेदन, वह निज वैभव आत्मा का प्रचुर स्वसंवेदन अतीन्द्रिय आनंद का वह निज वैभव। उस निज वैभव से मैं कहूँगा समयसार - ऐसा कहते हैं। यह निज वैभव कैसे उत्पन्न हुआ ? तीन निमित्त तथा चौथा उपादान मेरा, प्रथम तो सर्वज्ञ की वाणी उसकी उपासना से हमारे निज वैभव का उद्भव... प्रगट हुआ है, निमित्त अरहंत सर्वज्ञ की वाणी, इसके अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त हो सके (नहीं)। अन्यमत

के एकांत का निराकरण करने (वाली) अतिनिस्तुष युक्ति से निर्णय करके हमारा निज वैभव प्रगटा है। समझ में आया ? तीसरा-अरहंत सर्वज्ञ परमात्मा जो निर्मल विज्ञानघन में निमग्न अंतर्निमग्न थे, वहाँ से वह हमारे गुरु पर्यंत निर्मल विज्ञानघन में अंतर्निमग्न थे। आहाहा ! उन संतो ने मुझ पर महेरबानी करके कृपा की... प्रसादरूप शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश दिया। यहाँ तक आ गया है, परसों के दिन, आहाहा !

उससे हमारा जन्म, निज वैभव का। यह तीननिमित्त हुये, चौथा अतीन्द्रिय आनंद का प्रचुर स्वसंवेदन यह हमारे अनुभव की मुद्रा, छाप, मुहर छाप, मुद्रा। आहाहा ! **प्रचुर अतीन्द्रिय आनंद का वेदन... अभी राग है, वीतरागी नहीं। परंतु उस राग को भिन्न करके एवं अपने स्वरूप का स्वसंवेदन, स्व अर्थात् अपना अपने से प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय आनंद की मुहरछापवाला अनुभव है। - ऐसा हमारा वैभव इसप्रकार प्रगटा है।** उससे मैं अपने निज वैभव को अनुभव करके यह समयसार कहूँगा - ऐसा कहा। यहाँ तक आया है, समस्त वैभव से दिखलाता हूँ। वहाँ तक आया है। आहाहाहा !

'जो दिखलाऊँ (तो)' क्या कहते हैं। मुझे - ऐसा व्यापार, पुरुषार्थ निर्णय हुआ कि मैं अब इस मेरे निज वैभव से इस समयसार को कहूँ। परंतु जो दर्शाऊँ, दिखाऊँ यह शर्त रखते हैं, आहाहा ! है ? 'दिखाऊँ तो... स्वयं अपने ही, आहाहाहा ! अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना'... ओहोहो ! कितने शब्द प्रयोग किये है ? मैं इस आत्मा को राग से भिन्न, और स्वभाव से एकत्व, एकत्व-विभक्त, दिखालाऊँ परंतु दिखलाऊँ तो तुमसे शर्त इतनी है... आहाहा ! तुम्हें स्वयं बतलाऊँ तो प्रथम तो दिखलाऊँ यह पहले आ गया है, दिखलाऊँ परंतु दिखलाऊँ तो, आहाहा ! आहाहा ! स्वयमेव, स्वयं एव तुम अपने से ही स्वयं शब्द है न ? स्वयं अर्थात् खुद को एव अर्थात् 'ही' स्वयमेव तुम्हारे अपने से ही, आत्मा से ही... आहाहा ! अपने अनुभव प्रत्यक्ष से आहाहा ! हम कहते हैं कि तुम्हारा आत्मा राग से भिन्न है, और स्वरूप से एकत्व है, उसका अपने स्वयं के अनुभव में अंतर्मुख करके, अनुभव की परीक्षा का, आहाहा ! प्रत्यक्ष अनुभव... ऐसी बात है, स्वयं से तुम अनुभवो (कि) आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद स्वरूप है। उसका खुद से ही, स्वयं ही अनुभव से प्रत्यक्ष करके... इतनी शर्त है। तुम्हारे आनंद का प्रत्यक्षरूप तुम्हें वेदन हो, इसप्रकार अनुभव प्रत्यक्ष से, यह परीक्षा... परीक्षा द्वारा अनुभव करके... आहाहा ! ऐसी बात है, कहते हैं (कि) भले राग हो, परंतु राग से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न एकत्व-विभक्त - ऐसा शब्द लिखा है न ! 'एयत्तविहत्तं दर्शयेहमात्मनः' पहला पद यही है, एकत्वं विभक्तं यह दिखायेंगे। आहाहा ! यह रागादि भले शुभ हों परंतु यह शुभ राग से विभक्त - भिन्न और अंतर स्वरूप चैतन्यमूर्ति एकत्व है। आहाहा ! उसे मैं दिखलाऊँ एवं दिखलाऊँ तो

तुम स्वयं के अनुभव प्रत्यक्ष से... कितने (कैसे) शब्द प्रयोग किये है ? एक तो स्वयं अपने अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके... आहाहा !

यह आत्मा अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप है, और राग से भिन्न है इसप्रकार हमने जो कहा उसका **तुम अनुभव की परीक्षा से प्रत्यक्ष प्रगट करके प्रमाण करना।** आहाहा ! अनुभव करके प्रमाण करना। आहाहा ! देखो ! **पंचमकाल के श्रोताओं को इसप्रकार कहते हैं। स्वयं पंचमकाल के साधु हैं आहाहा ! अंदर वस्तु है वह अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनंद उससे एकत्व है,** वस्तु एवं राग चाहे तीर्थकरगोत्र का विकल्प हो कि किसी भी प्रकार के राग से विभक्त अर्थात् भिन्न है। वह तुम्हें दिखाऊँ और जो दिखाऊँ तो, आहाहाहा ! स्वयं अपने से स्वमेव अनुभव से, अनुभव में प्रत्यक्ष परीक्षा करके प्रमाण करना। आहाहाहा ! तुम्हें - ऐसा विश्वास होना चाहिए कि हम कहते हैं - ऐसा ही आत्मा है। आहाहा ! हम कहते हैं और कहा वैसा तुम्हें अनुभव में आये कि जैसा इन्होंने कहा, तो - ऐसा ही यह स्वरूप है - ऐसा अनुभवमें से प्रमाण करना। इसका अर्थ इतना कि हमने कहा, तुमने सुना, अब सुनने का लक्ष्य छोड़कर। आहाहाहा !

खुद अपने से स्वमेव तथा अपने अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना। आहाहा ! इतनी शर्त रखी है। आहाहा ! (श्रोता :- अंतर अनुभव करने में कुछ भूल हो जाये तो उसका निर्णय कैसे हो) भूल नहीं होगी - ऐसा यहाँ कहते हैं। यह मैंने कहा है उसी रीति से स्वयं, स्वयं अपने से अनुभव प्रत्यक्ष से प्रमाण कर तो हमने तुमको जैसा कहा है - ऐसा ही अनुभव होगा और उस अनुभव से परीक्षा करके प्रमाण करना। आहाहा ! सूक्ष्मबात है भाई ! यहाँ से प्रारंभ होता है। यहाँ करते हैं फिर छठवीं गाथा में उसका जोड़ करेंगे। आहाहाहा !

ऐसी बात दिगम्बर संतों के अतिरिक्त कहीं सुनने को मिले - ऐसा नहीं। आहाहा ! संप्रदाय में लीन लोगो को खबर नहीं, कि किस विधी से अनुभव होता है, तब क्या करे ? यहाँ कहते हैं कि साक्षात् स्वयं-स्वयं से... अपने में दो बातें स्वमेव खुद ही अपने अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना। आहाहा ! **गृहस्थ आश्रम में रहता हो उसे भी कहते हैं कि तुम, (सुनों) मैं कह रहा हूँ। उसे इस तरह अनुभव से प्रमाण करना, चाहे उसे राग हो, आहाहा ! गृहस्थ, मुनि न हुआ हो उसे अशुभ राग भी आये, और उस राग से पृथक् है - ऐसा अनुभव करना।** आहाहाहा !

'जो कहीं' अंतिम शब्द है न ? अक्षर, मात्रा, ह्रस्वई, दीर्घई आदि... अलंकार युक्ति आदि प्रमाणों में चूक जाऊँ तो दोष ग्रहण करने में, सावधान नहीं होना। दोष तुझे यदि ख्याल में आ जाये परंतु उसमें सावधान नहीं होना। आहाहा ! तुम्हें जानते

समय ख्याल में आ जाये कि इसमें इस जगह भूल है यह अक्षर की, मात्रा की, युक्ति की, अलंकार की, आहा ! तो सावधान नहीं होना। ख्याल में तुझे आये परंतु हम तुम से कहते हैं वह वस्तु का अनुभव है, वह राग से भिन्न (स्वभाव का) अनुभव कराना है, उसमें फर्क नहीं। आहाहा !

**क्योंकि शास्त्र (रूपी) समुद्र के प्रकरण बहुत हैं। बहुत जाति, युक्ति, धातु, अलंकार, मात्रा, अक्षर बहुत प्रकार हैं, इसलिये यहाँ स्वसंवेदन रूप अर्थ प्रधान है।** यहाँ तो स्व नाम अपने में आनंद का वेदन - ऐसा जो पदार्थ, वस्तु वह मुख्य है। आहाहा ! यदि कोई संस्कृत व्याकरण उसमें कहीं फर्क हो तो उसे तुम पकड़ना नहीं। आहाहा ! 'उसके अर्थ की परीक्षा करना' अर्थ अर्थात् वस्तु, आत्मा आनंदस्वरूप का अनुभव करना यह अर्थ की परीक्षा। आहाहा ! अर्थ की परीक्षा, आहा ! कि जो वस्तु है, उसका अनुभव करना वह अर्थ अंत में तो आता है न ? तत्त्वार्थ - तत्त्व के अर्थ को जानकर, आहाहा ! तत्त्व का अर्थ जो है उसे जानकर अर्थ (पदार्थ) में स्थिर होगा। आहाहा !

**भावार्थ :-** 'आचार्य आगम का सेवन'... वह भी आगम उसे कहते हैं कि जो अरहंत सर्वज्ञ के मुख (से) निकली हुयी बात... कल्पित आगम जो है लोगों द्वारा किये गये वह नहीं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा उनके मुख से निकली हुयी वाणी। 'मुख ओमकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे', उस वाणी को यहाँ आगम कहा जाता है। है ? आहाहा ! उस आगम का सेवन...कठिन बात है। वास्तव में तो श्वेताम्बर के आगम भी आगम नहीं - ऐसा यहाँ निषेध करते हैं तब उनका सेवन अनुभव में निमित्त हो - ऐसा है नहीं। आहाहा ! यह जो आगम सर्वज्ञ की कही हुयी वाणी जिसे गणधर ने गूँथा हो, वह वाणी आगम। आहाहा !

**उस आगम का सेवन एक बात, युक्ति का अवलम्बन...** अन्यमति जितने एकांत वादी हैं, उनका निस्तुषयुक्ति से उसका हमने खण्ड किया है, निराकरण करके हमको अनुभव हुआ है। आहाहाहा ! जितने ३६३ पाखण्ड हैं उन सभी का हमने युक्ति से निराकरण किया है कि यह वस्तु झूठी है। आहाहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात... - ऐसा समय। आहाहा ! दूसरी बात।

**'अपरगुरुओं का उपदेश...** आहाहा ! अरहंत से लगाकर हमारे गुरु उनकी परंपरा से मिला हुआ उपदेश। आहाहा ! **और चौथा स्वसंवेदन यह तीन निमित्त और चौथा यह स्वसंवेदन उपादन।** आहाहा !

'यों चार प्रकार से उत्पन्न हुये अपने ज्ञान के वैभव से', हमारे निज ज्ञान के वैभव से एकत्व विभक्त;... एकत्व-विभक्त कहना है न ? अंदर (में) पूरण अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंद से एकत्व है और रागादि विकल्प से पृथक् है, है अवश्य रागादिक,

परंतु हैं पृथक्। आहाहा ! व्यवहार रत्नत्रय का जो विकल्प उठता है, उस राग से भी पृथक् आत्मा है, आहाहा ! समझ में आया ? 'स्वसंवेदन..... इन चार बातों से (उत्पन्न हुआ अपना) ज्ञान के वैभव से एकत्व-विभक्त ऐसे शुद्धात्मा उसका स्वरूप दिखाते हैं।' आहाहाहा ! चाहे जिस प्रकार का शुभ राग हो परंतु उससे तो प्रभु आत्मतत्त्व भिन्न है, क्योंकि जो राग है वह तो आस्रव तत्त्व में जाता है, और आत्मा है वह तो ज्ञायक तत्त्व है, दोनों तत्त्व बिलकुल, नवतत्त्वों से भिन्न हैं। आहाहाहा !

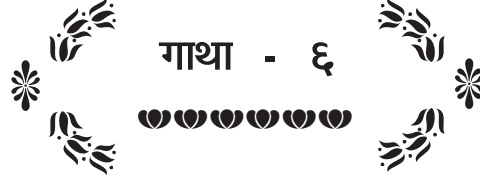
एकत्व विभक्त शुद्धात्मा का स्वरूप दिखाते हैं। आहाहा ! और 'सुननेवाले' हे श्रोताओ। आहाहा ! 'अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो। आहाहा ! उसमें मात्र मुनि को... - ऐसा कहीं नहीं कहा, जो श्रोता है। आहाहा ! बापू ! करने जैसा तो यह है। जो कुछ कर्तव्य है मोक्ष के मार्ग का वह तो राग से भिन्न स्वभाव से अभिन्न यह कर्तव्य है। आहाहाहा ! सुननेवाले हे श्रोताओ ! अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो ! अपनी जाति को अनुभव में प्रत्यक्ष (लो) स्व का सं (अर्थात्) प्रत्यक्ष उसको वेदन से प्रमाण करो (आहाहा ! अर्थात् कि अनुभव करो। आहाहा ! प्रथम तो यह करना है, फिर आगे शांति बढ़े स्व के आश्रय से व्रत के विकल्प आयें, पांचमें गुणस्थान में, छठवें गुणस्थान में भी, यह सभी विकल्प आस्रव हैं। आहाहा !

करना तो यह है। उस समय भी विभक्तपना (तो) है यह तुम्हें करना है, व्रत (के परिणाम) आते हैं छठवें गुणस्थान में पंचमहाव्रत आदि, पांचमें में बारहव्रत परंतु उस समय भी उनसे विभक्त करना है। आहाहा ! उसके एकत्व से, उसीसे विभक्त हो सकें - ऐसा नहीं। शुभ राग के एकत्व से उससे भिन्न हुये - ऐसा नहीं उससे भिन्न करो तो भिन्न होगा। आहाहा ! समझ में आया ?

स्वयं के स्वसंवेदन (से) 'स्व' अर्थात् स्वयं का वेदन 'सं' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण करके, 'कहीं कोई प्रकरण' अर्थात् अध्यायों में, अनुभव के अतिरिक्त अध्यायों में भूल जाऊँ तो इतना दोष ग्रहण नहीं करना - ऐसा कहा, उन दोषों पर ध्यान नहीं देना। 'यहाँ स्वयं के अनुभव की प्रधानता है' अनुभव की मुख्यता है, यहाँ तो। आहाहाहा ! उससे शुद्ध स्वरूप का निश्चय करो, कहने का यह आशय है। यह पं. जयचन्द्रजी ने भावार्थ में लिखा (है)। पहले के पण्डित ऐसे थे दिगम्बर पण्डित लोग जयचन्द्रजी पण्डित टोडरमल, बनारसीदास, भागचन्द्रजी आदि। ओहोहो ! जयचन्द्र पण्डितजी ने यह भावार्थ भरा है कि आचार्यों का यह कहना है, आहाहा ! प्रचलित भाषा में।

तो अब शिष्य को प्रश्न उठता है, यह प्रश्न उठता है कि - ऐसा शुद्धात्मा कौन है ? है ऊपर (शीर्षक में) 'कोऽसौ शुद्धात्मेतिचेत' जो एकत्व है और पर से विभक्त है - ऐसा शुद्धात्मा है कैसा ? कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए ? शिष्य

का यह अंदर से आया है कि - ऐसा वह शुद्धात्मा स्वभाव से अभेद और राग से भिन्न - ऐसा शुद्धात्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए - ऐसा है न ? चेत का अर्थ हुआ न ? - ऐसा जिसको अंतर जिज्ञासा से प्रश्न उठा है ऐसे श्रोता को उत्तर दिया जाता है। सुनने के लिये आये इसलिये अपने को सुनना चाहिए - ऐसों के लिये नहीं कहते हैं। जिसे अंतर से प्रश्न उठा है, वह शुद्धात्मा वह कौन है यह ? क्या है यह वह वस्तु और कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए, दूसरे द्रव्य को जानना चाहिए - यह प्रश्न उसे उठा ही नहीं। छहद्रव्य को, छह द्रव्य के गुणों को, यह बात तो साधारणतय गौणरूप से अंदर आयी। - ऐसा जो भगवान आत्मा शुद्ध स्वरूप स्वभाव से एकत्व एवं राग से विभक्त - ऐसा जो शुद्ध - ऐसा वह आत्मा कौन है ? कैसा है ? कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए। - ऐसा शुद्धात्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए ? आहाहाहा ! है ? इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप गाथा है। - ऐसा जिसको प्रश्न अंदरमें से उठा है कि यह शुद्ध है वस्तु अंदर पूर्णानंद का नाथ प्रभु - ऐसे विकल्प के विकार से बिलकुल भिन्न और अपने परिपूर्ण स्वभाव से एकत्व अभेद - ऐसा वह शुद्धात्मा है कौन ? कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए ? आहाहाहाहा ! - ऐसा जिसका प्रश्न अंतरमें से उठा है - ऐसे श्रोताओं को यह उत्तर देने में आता है, आहाहा ! क्या शैली !



## गाथा - ६

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत् -

ण वि होदि अप्प्रमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।  
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चैव ॥६॥  
नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।  
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥६॥

---

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि - ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है जिसका स्वरूप जानना चाहिए ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :-

नहि अप्रमत्त प्रमत्त नहि, जो एक ज्ञायक भाव है ।  
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है ॥६॥

गाथार्थ :- [यः तु] जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायक भाव है वह [अप्रमत्तः अपि] अप्रमत्त भी [न भवति] नहीं और [न प्रमत्तः] प्रमत्त भी नहीं है; [एवं] इसप्रकार [शुद्धं] इसे शुद्ध [भणंति] कहते हैं; [च यः] और जो [ज्ञातः] ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ [सः तु] वह तो [स एव] वही है, अन्य कोई नहीं ।

टीका :- जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से), अनादि सत्तारूप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनंत है, नित्यउद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है - ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसार की अवस्था में अनादि बन्धपर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीरनीर की भाँति कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो दुरंत कषायचक्र के उदय की (-कषायसमूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश से प्रवर्तमान पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता) इसलिये वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्यद्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है ।

और जैसे दाह (-जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं तथापि उसके दाहकृत अशुद्धता नहीं होती, उसीप्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव'

के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ वह स्वरूपप्रकाशनकी (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी, दीपककी भाँति, कर्ताकर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है, स्वयं जाननेवाला है - इसलिये स्वयं कर्ता और अपने को जाना इसलिये स्वयं ही कर्म है। (जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है, और अपने को-अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार ज्ञायक को समझना चाहिये।

भावार्थ :- अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। उसमें मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्य-दृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है, और पर्याय (अवस्था)-दृष्टि से देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है। इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है; और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; यह कहीं जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद हैं वे परद्रव्य की संयोगजनित पर्याय हैं। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है सत्यार्थ है, परमार्थ है। इसलिये आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं हैं इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। 'यह जो मैं जाननेवाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं' - ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है, और जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। - ऐसा एक ज्ञायकत्वमात्र स्वयं शुद्ध है - यह शुद्धनय का विषय है। अन्य जो परसंयोगजनित भेद हैं वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है - ऐसा आशय समझना चाहिये।

यहाँ यह भी जानना चाहिये कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिये अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जाये; क्योंकि स्याद्वादप्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता, दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तु का सत्त्व है; अंतर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है। अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा



है क्योंकि, अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न होता है तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है। इसप्रकार दुःख मिटाने के लिये शुद्धनय का उपदेश प्रधान है। अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से यह न समझना चाहिये कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है - ऐसा सर्वथा एकांत समझने से मिथ्यात्व होता है; इसलिये स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन लेना चाहिये। स्वरूपकी प्राप्ति होने से बाद शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है वह है-यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इसप्रकार निश्चय करना योग्य है।

यहाँ, (ज्ञायकभाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है - ऐसा कहा है। वह गुणस्थानों की परिपाटी में छट्टा गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहलाता है। किन्तु यह सब गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी में है; शुद्धनय से तो आत्मा ज्ञायक ही है।



#### गाथा - ६ पर प्रवचन

ण वि होदि अप्पमतो ण पमतो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥६॥

नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है।

इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है ॥६॥

**इसका गाथार्थ :-** जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं 'इसप्रकार इसे शुद्ध कहते हैं'। आहा ! टीका में कहेंगे। यह वस्तु जो स्वयं शुद्ध (है), पर से भिन्न एवं स्व से अभिन्न वह शुभ अशुभ भावरूप हुयी ही नहीं। **ज्ञायकभाव जो है, जो वस्तुस्वरूप है, वह शुभाशुभ भावरूप हुयी नहीं। क्योंकि शुभाशुभ भाव तो जड़ है, उसमें चेतन का अभाव है। आहाहाहा ! यह ज्ञायक स्वरूप शुभाशुभ भावरूप हो तो जड़ हो जाये।** देखो ! यह विभक्त और एकत्व को सिद्ध करता है। यह शुभाशुभ भाव से भिन्न है अर्थात् ? शुभाशुभ भावरूप पर्याय हुयी ही नहीं उसकी पर्याय, ज्ञायक तो शुभाशुभ भावरूप ज्ञायक हुआ ही नहीं। आहाहा यदि यह शुभाशुभ भावरूप हो तब प्रमत्त अप्रमत्त ऐसी दशा उत्पन्न हो। समझ में आया कुछ ? समझ में आया ? आहाहाहाहा ! बहुत सूक्ष्म बापू !

यह ज्ञायक भाव है। बहिन (श्री) की भाषा में आया है न.....! 'जागता जीव

विद्यमान है वह कहाँ जाये ? वह यह वचनामृत पढ़ा है न ! पण्डित जी इसमें पहला बोल है, जागता जीव, प्रथम उसमें न रुचे तो आत्मा में रुचे - ऐसा है। फिर बोल है छोटी पुस्तक में पहले ऊपर बोल है। जागता अर्थात् ज्ञायक, ज्ञायक अर्थात् कि ध्रुव, जो शुभाशुभभावरूप हुआ नहीं क्योंकि ज्ञानस्वरूपी प्रभु ! (चेतन) है वह शुभ-अशुभ (भाव) अचेतन है, उसमें ज्ञान का (चैतन्य) अंश नहीं उस स्वरूप वह क्यों हो ? आहाहा ! शुभाशुभ भाव ज्ञायक भाव (रूप) स्वयं हुआ नहीं अर्थात् उससे पृथक् ही रहा है। आहाहाहा !

‘इसप्रकार इसे शुद्ध कहते हैं’ शुभाशुभ भावरूप ज्ञायकभाव हुआ नहीं इसलिये वह अप्रमत्त प्रमत्त नहीं। इसप्रकार (गाथा) में पहले अप्रमत्त लिया है न ? आहाहा ! अप्रमत्त भी नहीं। सातमें (गुणस्थान से) चौदहवें तक अप्रमत्त, एक से छह (गुणस्थान) प्रमत्त, चौदहगुणस्थान (हैं)। पहले अप्रमत्त से लिया है। क्योंकि ज्ञायकभाव एकरूप वस्तु है। यह शुभ-अशुभ भावरूप हुयी नहीं। इसलिये वह अप्रमत्त प्रमत्त ऐसे गुणस्थान भेद, ज्ञायकभाव में नहीं। आहाहाहा ! अर्थात् ? चैतन्य का एकरूप रस, जानना स्वभाव का एकरूप रस, उसमें दूसरे रूप (अर्थात्) शुभाशुभ भावरूप वह हुआ ही नहीं। आहाहा ! यह तो ज्ञायकरूप - एकरूप रस में रहा है।

(श्रोता :- इसमें कुछ समझ में नहीं आता) कुछ समझ में नहीं आता ? यह तो चैतन्यस्वभाव के रसरूप ही रहा है। उसमें अचेतन का अंश छुआ ही नहीं। अचेतन के शुभाशुभ भावरूप... चैतन्यरस, ज्ञायकरस, ज्ञायक अस्तित्वरस जिसकी मौजूदगी ज्ञायक स्वभाव रूप है। वह शुभाशुभ भावरूप हुआ नहीं, उससे भिन्न है, वह ज्ञायक भावरूप रहा है। इसलिये उसे प्रमत्त-अप्रमत्त ऐसे भेद लागू होते नहीं। आहाहाहा ! समझ में आया ?

(श्रोता :- अप्रमत्त अर्थात् शुद्ध परिणाम ?) हाँ, मात्र शुद्ध नहीं अशुद्ध (भी) भेद है न ? **आत्मा में चौदहवां गुणस्थान भी नहीं। तेरहवां केवलज्ञान भी नहीं, भेद है न ! सभी में उदयभाव है न ! - ऐसा भेद है। यह शुभाशुभ भावरूप हुआ नहीं, इसलिये वह अप्रमत्त-प्रमत्त नहीं, इसलिये वह गुणस्थान के भेदरूप हुआ नहीं।** आहाहाहा !

(श्रोता :- गुणस्थान पुद्गल की पर्याय है।) उसे तो अचेतन पर्याय कही है। अंतिम ६८ गाथा और ३८ गाथा में। आहाहा !

भाई यह तो अलौकिक बात है !! इसने अनंतकाल में, भव का अंत आये ऐसी बात जानी नहीं। आहाहा ! कहते हैं कि भव के अनंतवाली चीज है। भव तथा भव का भाव जिसमें नहीं... आहाहाहा ! क्योंकि शुभ-अशुभरूप ज्ञानरस चैतन्यधाम चैतन्यरसकंद प्रभु अनादिअनंत एकरूप। आहाहा ! यह कभी भी शुभाशुभ भावरूप हुआ नहीं। इसलिये

प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानभेद इसमें नहीं। आहाहा ! **ज्ञायकभाव एकरूप है, उसमें भेद नहीं। गुणस्थान के भेद उसमें हैं नहीं। आहाहाहा ! यह दृष्टि का विषय है।** उस ज्ञायक को यहाँ भूतार्थ कहा है। विद्यमान पदार्थ वस्तु एकरूप नित्य आनंद ज्ञायकभाव-ज्ञायकभाव-ज्ञायकभाव, ध्रुवप्रवाह, चैतन्य की बाढ़ का ध्रुवप्रवाह। पानी की बाढ़ इसप्रकार चलती (है), यहाँ बाढ़ ध्रुव = ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव। आहाहाहा ! यह ज्ञायकरूप जानने में आया फिर उसे शुद्ध कहते हैं।

'पुनश्च जो ज्ञायकरूप ज्ञात हुआ वह तो वह ही है' अर्थात् ? जाननेवाला ज्ञात हुआ - यह जाननेवाली पर्याय स्वयं की है। **जाननेवाली जो वस्तु है वह ज्ञातहुई, परंतु जो ज्ञात हुयी पर्याय वह तो अपनी है। वह पर्याय अपना कार्य है और आत्मा उसका कर्ता है।** आहाहा ! जाननेवाला - ऐसी ध्वनि है न ? अर्थात् जाननेवाला इसलिये जाने, पर को जाने ? जाननेवाला है न ? **जाननेवाला है, तब वह पर को जानता है ? तब कहते 'नहीं' यह तो पर के संबंधवाला ज्ञान स्वयं से, स्वयं में स्वपरप्रकाशक होता है, वह पर्याय ज्ञायक की है।** यह ज्ञायकरूप में अवस्थित है। ज्ञायक को जाननेवाली पर्याय, वह तुम्हारा कार्य है। जानने योग्य (जो बाह्य) वस्तु है वह जानना उसका कार्य नहीं और जानने योग्य जो वस्तु है वह जाननेवाले का कार्य नहीं। आहाहा ! - ऐसा है !

'ज्ञायकरूप ज्ञात हुआ' कहा न ? ज्ञातः 'ज्ञात हुआ वह तो वही है' 'जाननेवाला' है इसलिये उसमें **दूसरा (पदार्थ) ज्ञात हुआ - ऐसा नहीं।** 'जाननेवाला' है तब 'जाननेवाला' तब दूसरा ज्ञात हुआ है इसमें ? (कहते हैं कि) ना, (- ऐसा नहीं) यह जानने में स्वयं आता है (स्वयं अपनी) पर्याय जानने में आती है। जाननेवाले की पर्याय ज्ञात हुयी है। आहाहा ! रागादिक हों परंतु राग संबंधी जो ज्ञान है न ? यह ज्ञान तो स्वयं से प्रगटा है। यह राग है इसलिये यहाँ स्वपर प्रकाशक ज्ञान की पर्याय प्रगटी है - ऐसा नहीं। आहाहाहाहा !

**'ज्ञात हुआ वह स्वयं ही है'**

जो ज्ञान की पर्याय में, 'ज्ञात हुआ' जाननेवाला ऐसी ध्वनि आती है तो (- ऐसा लगता है कि) मैंने 'दूसरे को जाना' यह उसका कार्य है ? नहीं। उसे दूसरे को जानते समय स्वयं की पर्याय स्वयं को ज्ञात हुयी है, उसे वह जानता है। आहाहाहा ! क्या कहा ?

(श्रोता :- दूसरा नहीं - ऐसा क्यों कहा) दूसरा अर्थात् राग नहीं, राग का ज्ञान नहीं, वह राग का ज्ञान नहीं, वह ज्ञान का ज्ञान है। **'व्यवहार जानने के लिये प्रयोजनवान'** इसमें आयेगा, परंतु कहते हैं कि राग है तो राग का यहाँ ज्ञान हुआ है - ऐसा

नहीं है, और यह राग को जानता है - ऐसा नहीं है। यह तो राग सम्बन्धी अपना ज्ञान अपने को हुआ है, उसे जानता है। आहाहा ! ऐसी बात है।

(श्रोता :- ज्ञायक भी आत्मा एवं ज्ञेय भी आत्मा।) पर्याय, यहाँ तो उसकी पर्याय लेना है यहाँ तो, यह ज्ञात हुआ जिसमें वह पर्याय अपनी है उसे जानता है। पर को जानता है - ऐसा नहीं। आहाहा ! सूक्ष्म बात है भाई ! अभ्यास नहीं न 'इस' अनंतकाल की मूल वस्तु का। आहा !

'वह ही है' इसतरह है न आहा ! 'दूसरा नहीं' अर्थात् ? यह राग का ज्ञान नहीं। यह पर को जाननेवाला ज्ञात हुआ, इसलिये यह जाननेवाले ने दूसरे को जाना, इसलिये पर को जाननेवाला ज्ञान है - ऐसा नहीं। आहाहा !

शब्द-शब्द में गूढ़ता है। यह तो समयसार है। आहाहा ! इसमें कुन्दकुन्दाचार्य ! (मांगलिक में) तीसरे नम्बर पर आये हैं न ! **मंगलम् भगवानवीरो, मंगलम् गौतमो गणी, मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो।** आहाहा ! प्रथम भगवान, दूसरे गणधर, तीसरे कुन्दकुन्दाचार्य। **जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।** आहाहा ! बात बहुत कठिन (है,) पुरुषार्थ बहुत चाहिए भाई 'और यह ज्ञायकपने ज्ञात हुआ' - ऐसा आया न ? पर्याय है यह !

**टीका :- 'जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से स्वयं स्वयं से सत्तारूप वस्तु होने से,** 'किसी से उत्पन्न न हुआ होने से अनादि है अनादि सत्तारूप है' उसकी सत्ता, स्वयं स्वयं से ही सत्तारूप होने से, किसी से उत्पन्न हुआ नहीं, इसलिये भगवान आत्मा, जिसे हम शुद्ध कहना चाहते हैं, वह अनादि सत्तारूप है, अनादि सत्तारूप है। आहाहा ! पर्याय तो होती एवं जाती है। वस्तु जो है वह तो राग से पृथक् यह तो अनादि सत्तारूप है। अनादि से टिकनेवाली चीज है, क्योंकि किसी से उत्पन्न हुआ नहीं। ईश्वर ने उसे उत्पन्न किया है, (कि) ईश्वर आत्मा का कर्ता है आत्मा का - ऐसा नहीं। आहाहा ! 'जो स्वयं स्वयं से ही। कथंचित स्वयं से कथंचित पर से तब अनेकांत हो न ?' स्वयं स्वयं से है पर से नहीं उसका नाम अनेकांत है। आहाहा ! अपनी सत्ता अपने से है एवं अपनी सत्ता पर से नहीं। आहाहाहा ! - ऐसा अनादि सत्तारूप है।

'कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनंत है' कभी विनाश को प्राप्त होता नहीं। 'है' अनादि सत्ता (रूप) वस्तु है, है, है, है, भूतकाल में है, वर्तमानकाल में है, भविष्यकाल में है। है यह है बस। आहाहा !! 'है' अनादि सत्ता रहनेवाली वस्तु कभी विनाश को प्राप्त करती नहीं, किसी भी समय विनाश होती नहीं। 'कभी' शब्द है न ? आहाहा ! इसलिये वह अनंत है। भविष्य में कायम रहनेवाली है, इसलिये अनंत है इसप्रकार। आहाहा ! जिसका कभी अंत नहीं, जिसकी शुरुआत नहीं जिसका अंत नहीं, ऐसी

अनादि-अनंत यह वस्तु है। आहाहाहाहा ! भाषा तो सरल है परंतु भाव तो देखो भाई कठिन है, आहाहा !

‘नित्य उद्योतरूप होने से’ पुनः वर्तमान रहनेवाला होने से ‘क्षणिक नहीं’ है न ? कोई वस्तु क्षणिक हो - ऐसा नहीं। नित्य उद्योतरूप है कायम - ऐसा का - ऐसा वर्तमान में भी कायम - ऐसा का - ऐसा ध्रुव अनादि-अनंत सत्तास्वरूप वस्तु कायम उद्योतरूप है। वर्तमान में भी उद्योतरूप प्रगट है। आहाहा ! शुद्ध वस्तु, राग से भिन्न स्वभाव से अभिन्न, ऐसी चीज (आत्मा) वर्तमान में प्रगटरूप होने से क्षणिक नहीं, यह क्षणिकवस्तु नहीं, यह तो ध्रुव है। आहाहा ! एक एक शब्द तथा एक एक पद बराबर समझे तो, सभी न्याय आ जायें... आहाहा !

‘और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है - ऐसा जो ज्ञायक’... आहाहा ! कैसा है ? यह तो स्पष्ट प्रगट प्रत्यक्ष प्रकाशमान प्रत्यक्ष प्रकाशमान (है) आहाहा ! वर्तमान में प्रत्यक्ष ज्ञात हो ऐसी यह ज्योति है। आहाहा ! स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति, चैतन्यज्योति, चैतन्यज्योति, चेतन, चेतन, चेतन, चेतन, चेतन, चेतन्य-प्रत्यक्ष स्पष्ट, प्रकाशमान ज्योति है। आहाहा ! - ऐसा जो ज्ञायक ‘एकभाव है’ देखा ? ज्ञायक - ऐसा एक भाव है। आहाहा !

‘वह संसार की अवस्था में... अब अवस्था की बात कहते हैं। वस्तु तो ऐसी ही है, अनादि सत्तास्वरूप अनादि ज्ञायकभाव जो अनादि अनंत, नित्य, स्पष्ट, वर्तमान उद्योतरूप स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति चीज है। आहाहा ! अब उसकी अवस्था में अनादि की जो भूल पर्याय की है उसकी बात करते हैं।

जो संसार की अवस्था में... अनादि बंध पदार्थ की कथन की अपेक्षा बंध की अवस्था की अपेक्षा देखें तो ? ‘क्षीरनीर की भांति कर्म-पुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी’ दूध और पानी दिखने पर भी, दूध-दूध रूप में है पानी-पानी रूप में है। ‘इसप्रकार क्षीर-नीर की भांति’ क्षीर अर्थात् दूध और नीर अर्थात् पानी जैसे। कर्म पुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी आत्मा दूध समान है। सब पुद्गल कर्म पानी समान है, पानी पानी स्वरूप है एवं दूध दूध स्वरूप है। ‘पानी का पानी दूध का दूध’ कहावत है न ? आहाहा ! यह (जो) दूध में पानी डालकर देते है न ? धोखा करके, फिर बोलते भी है, ‘दूध का दूध पानी का पानी’ रहेगा। दूध में पानी डालकर देते हैं, अतः अनर्थ का पैसा नहीं रहता। आहाहा !

जिसप्रकार पानी और दूध भिन्न हैं, इसतरह भगवान आत्मा और पुद्गल भिन्न है, साथ में एकरूप होने पर भी... है स्वरूप साथ में। परंतु ‘द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो’... उस पर्याय के संबंध से देखने में आये तो ऐसे एक

दिखता है परंतु वस्तु के स्वभाव से देखने में आये तो... यह समझ में आया ?

संसार की अवस्था में अनादि बंध-पर्याय की अपेक्षा से दूध पानी की तरह एकरूप होने पर भी, पर्याय में, पर्याय पर्याय के साथ पुद्गल कर्म साथ में दिखते हैं। परंतु द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखने में आये... आहाहा ! वस्तु को जो कायमी स्वभाव है, असली अनादि अनंत, नित्य उद्योतरूप, स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति - ऐसा जो द्रव्यस्वभाव, उसकी अपेक्षा से देखने में आये तो ? यहाँ तक बात...

अब कहते हैं 'तब दुरन्त कषायचक्र उदय की विचित्रता के वश' कषाय के चक्र का अंत लाना, महापुरुषार्थ है, अनंत 'दूर... अंत.,' जिसका महापुरुषार्थ से अंत आये - ऐसा कषाय चक्र पुण्य और पाप... कषायचक्र के उदय की, कषाय समूह के अपार उदय की विचित्रता। कषाय चक्र है न ? 'कषायचक्र के उदय की विचित्रता के वश प्रवर्तमान जो पुण्य पाप को उत्पन्न करनेवाले' कर्म के निमित्त के संबंध से जुड़ते, जो कहीं विचित्रता के वश प्रवर्तमान पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले सभी अनेकरूप शुभाशुभ भाव, पुण्य-पाप रूप जो परमाणु बंधते हैं उनकी बात है, उसको उत्पन्न करनेवाले वर्तमान शुभाशुभ भाव - वह पुण्य-पाप, यह कर्म, उसे उत्पन्न करनेवाले शुभाशुभ भाव 'उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता' आहाहा !

क्या कहा ? 'द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो ?' दुरंत कषायचक्र की उदय की विचित्रता के वश प्रवर्तमान (जो) सभी पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले अनेकरूप... देखा ? शुभ-अशुभभाव एकरूप नहीं अनेकरूप हैं, सभी अनेकरूप शुभ भी अनेकरूप असंख्य प्रकार, अशुभ भी अनेकरूप असंख्य प्रकार। इस रूप द्रव्य के स्वभाव से देखने में आये तो... आहाहा ! पुण्य-पाप को उत्पन्न, करनेवाले ऐसे शुभाशुभ भावों 'उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता' आहाहा ! भगवान जो (ज्ञायक) शुद्ध चैतन्य, वस्तु स्वभाव को देखें तो... वस्तुतः देखें तो पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाला जो शुभाशुभ भाव... उस भावरूप स्वभाव अपेक्षा देखें तो द्रव्य उसरूप हुआ ही नहीं। शुभ-अशुभ भावरूप द्रव्यस्वभाव कभी भी हुआ ही नहीं। आहाहा ! क्योंकि यह तो ज्ञायक स्वरूप है और उत्पन्न करनेवाले जो पुण्य-पाप के शुभाशुभ भाव है, वह तो अचेतन है। इसमें चैतन्य के स्वभाव का अंश भी नहीं है। आहाहा !

'उनके स्वभावरूप नहीं होता'... आहाहा ! पण्डित जयचन्द्रजी स्पष्टीकरण करते हैं। ज्ञायकभाव से जड़भावरूप होता नहीं... भाषा देखो ! शुभ-अशुभ भावरूप हो तो जड़ हो जाये, क्योंकि शुभाशुभ भाव तो अचेतन अजीव हैं। आहाहा !

यह जीव ज्ञायक है, वह शुभाशुभ अजीव जड़रूप कैसे हो ? आहाहाहा ! द्रव्यस्वभाव से देखें तो जिस कषाय का अंत लाना मुश्किल, ऐसी विचित्रता के वश उत्पन्न हुये

शुभाशुभ भाव जो पुण्य-पाप के कारण है, उनरूप यह आत्मा नहीं होता। आहाहा !  
- ऐसा है।

'वोच्छामि समयपाहुड़' - ऐसा कहा है न ? मैं कहूँगा, कहूँगा तो इसका अर्थ यह कि उसके सुननेवाले कोई हैं उनसे कहते हैं न ? 'वोच्छामि' कहेंगे तब इसका अर्थ कि इसके सुननेवाले हैं उनसे कहते हैं। तुम्हारानाथ अंदर जो ध्रुव चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव स्थित है 'इन कर्मों के चक्र का अंत लाना शुभाशुभ भाव का। मुश्किल है' फिर भी वह पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले शुभ एवं अशुभ भावरूप वह द्रव्य स्वभाव, कभी हुआ ही नहीं। है न ?

'ज्ञायकभाव से जड़भाव (रूप) नहीं होता' देखो ! - ऐसा कहा, इन शुभाशुभ भाव को जड़ कहा। ज्ञायक... तो चैतन्यस्वरूप चैतन्यप्रकाश का पुंज है और शुभाशुभ भाव तो अंधेरा है, आहाहा ! चैतन्य के प्रकाश का शुभाशुभ भाव में अभाव है। आहाहा ! यह प्रकाश अंधकार रूप कैसे हो ? इसप्रकार ज्ञायक, शुभाशुभ रूप कैसे हो ? आहाहा ! इसलिये प्रमत्त भी नहीं एव अप्रमत्त भी नहीं। इस कारण भगवान आत्मा ज्ञायकभाव, शुभाशुभरूप हुआ नहीं, इसलिये इसे गुणस्थान के भेद भी होते नहीं। आहाहा ! अब एक अंतिम लाइन शेष है।

- प्रमाण वचन गुरुदेव !

